

राजस्थानी जनजातीय कलाओं का स्वरूप व उद्देश्य

सारांश

कला का उदय मानव की सौंदर्य भावना का परिचायक है। मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ सदैव से विद्यमान रही हैं, जिज्ञासा एवं सौंदर्य बोध। मानव की जिज्ञासावृत्ति की परिणिति ज्ञान में तथा सौंदर्य की परिणिति कला सृजन में हुई और संस्कृति के विकास का कारक बनी। भारतीय विद्वानों ने कला को साहित्य, ज्ञान, विद्या आदि से भिन्न स्वीकार किया है।

“न तज्ज्ज्ञानं ज्ञानं न तत शिल्पम न सा विद्या न सा कला” भरत मुनि कला में मनुष्य बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा स्वयं की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। कला रूपों की रचना करती है और यह रूप हमारे जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं एवं प्रभावित करते हैं। इस प्रकार कला एक ओर लोकोपयोगी है तो दूसरे रूप में लोक का निर्माण करती है। कला हमारे जीवन की अनिवार्यता है। इस क्रम में राजस्थान के ग्राम्य अंचलों में व्याप्त कला संसार अद्भुत है। राजस्थान की जनजातीय कलाओं में दृश्य, श्रव्य, मंचीय सभी प्रकार की कलाएँ हैं, जिनसे लोक संस्कृति का ज्ञान होता है। राजस्थान के ग्राम्य अंचलों में भौगोलिक विविधता के परिणामतः इन कलाओं के स्वरूप में भी पर्याप्त भिन्नता देखी जा सकती है, किंतु उद्देश्य के स्तर पर इन में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। ये कलाएँ मानवीय भावनाओं को तृप्त करने के साथ-साथ शक्ति और सौंदर्य प्रदान करती हैं। राजस्थान के लोक जीवन में उत्साह और स्फूर्ति का संचार करती हैं। डॉ राधाकमल मुखर्जी ने कहा है कि कला व्यक्ति की चिरस्थाई कीर्ति और संस्कृति की शाश्वत धरोहर ही नहीं अपितु उसकी प्रधान प्रेरणा है। कला सब को एक सूत्र में बांधने वाली शक्ति है और लोक जीवन पर इसका पर्याप्त प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कला व्यक्ति की आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति का महत्वपूर्ण साधन है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अधिकांश जनजातीय परंपराएँ अथवा कलारूप अपने मौलिक स्वरूप में विद्यमान हैं। यद्यपि कुछ कलारूप ऐसे भी हैं जिन्होंने परिस्थितिजन्य अन्य प्रभावों को ग्रहण किया किंतु इसके उपरांत भी उनके निजी उद्देश्य को अक्षुण्ण बनाए रखा। जनजातीय सृजनात्मकता को हम जीवन की उपयोगिता के उपयोगितावाद में समाविष्ट पाते हैं। उनके लिए कला सृजन कोई वस्तु नहीं है बल्कि उन्होंने अपने जीवन को सुंदर सज्जात्मक बनाने के लिए जो उपक्रम किया वही उनकी कलात्मकता के रूप में हमारे समक्ष है। इस प्रकार किसी भी संस्कृति के सामाजिक आदर्शों की अभिव्यंजना उसकी कलाओं के माध्यम से बड़ी सरलता से हो सकती है। यह कलाएँ मात्र मिथ्या भ्रातियों और कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों की अभिव्यक्ति होती है। यह तर्क एवं बुद्धि से ऊपर उठकर लोक व्यवहार का नियमन करती हैं।

मुख्य शब्द : राजस्थानी, सृजनात्मक, लोक-जीवन, सौंदर्य चेतना, लोक-परंपरा, विश्वासों, आस्थाओं, जनजातीय जीवन, राजस्थानी जनजातीय कलाएँ, सांस्कृतिक, लोक-कला, शुभस्तु भावना, ग्राम्य-अंचल।

प्रस्तावना

मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ सदैव से विद्यमान रही हैं, जिज्ञासा और सौंदर्य बोध। मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति की परिणिति ज्ञान में तथा सौंदर्य बोध की परिणिति कला सृजन में हुई एवं सभ्यता और संस्कृति के विकास का कारक बनी। सौंदर्य बोध निःसंदेह कला सृजन का आधार है तथापि सभ्यताओं के प्रथम चरण में हम देख सकते हैं कि कला सृजन स्वतंत्र सत्ता के रूप में नहीं अपितु वह सदैव जीवन की प्रक्रिया, शैली या दैनिक क्रिया कलाओं में स्वाभाविक रूप से व्यक्त होता रहा है। यह सृजन स्वयं की अन्तःनिहित शक्ति के कौतुक का स्वयं से साक्षात्कार था। स्वयं के आत्मविस्तार का एक प्रकार था। यह सृजन जो कला के रूप में प्रत्यक्ष हुआ, वह साध्य नहीं बल्कि एक ऐसे बोध की भूमिका है



आशीष कुमार श्रृंगी
सहायक आचार्य,
चित्रकला विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
बूंदी, राजस्थान, भारत

जो स्वयं के साथ-साथ दूसरे को भी अभिभूत एवं आनंदित करने की संभावनाओं से युक्त थी। "इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के ग्यारहवें भाग में उल्लेख है कि ललित कला मानव की सृजन की प्रवृत्ति से अद्भुत होती है। इसका प्रथम उद्देश्य कलाकार को उपयोगितारहित आनंद प्रदान करना है किंतु यही उसके कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती, यह दर्शक को भी एक विशिष्ट प्रकार का आनंद प्रदान करती है।"¹

बौद्धिक विकास के साथ सौंदर्य के आकर्षण एवं सृजन की प्रवृत्ति का परिष्कार हुआ जो सभ्यता और संस्कृति के विकास क्रम में नागर या अभिजात्य परंपरा के रूप में सामने आया किंतु एक बड़ा वर्ग विकास के साथ इस प्रभाव से पृथक था। यह अभिजात्य वर्ग के ठीक विपरीत आदिम या लोक लोक समाज था यहां मानव की सौंदर्य वृत्ति कुछ भिन्न ढंग से विकसित हुई यहां परिष्कार के स्थान पर रूढ़ प्रयोग और प्रयोगवादिता के स्थान पर रूढ़ प्रयोगों से निर्मित परंपरा का संवर्धन मात्र लक्ष्य था। परिणामस्वरूप आदिम या लोक परंपरा का एक विशिष्ट सौंदर्यमान पृथक से स्थापित हुआ।

बुद्धि का कार्य नवीन विकल्पों का अन्वेषण करना है परिणामतः अभिजात्य परंपराएं समय-समय पर बदलती रहीं। यहां गुण दोषों का विश्लेषण था और पुरातन के स्थान पर नवीन को ग्रहण करने का खुला विकल्प सदैव उनके समक्ष रहा। लोक या आदिम जीवन बुद्धि के स्थान पर विश्वासों एवं आस्थाओं से संचालित रहा, परिणामतः लोक परंपराएं किंचित परिवर्तनों के साथ आदिम युग से अब तक सतत प्रवाहमान दिखाई देती हैं। उनका यह विश्वास हमारे सामने अनेक रूपों में आज भी विद्यमान है। यद्यपि विश्वास की यह आधार भूमि कुछ अनुभवों एवं कुछ तर्कों से युक्त होती है किंतु विश्वास जो तर्क से परे है उन्हें हम विश्वास की ऐसी पराकाष्ठा कह सकते हैं जहां से वह सत्य उद्घाटित हो जाता है जो तर्क द्वारा भी नहीं हो पाता। लोक जीवन मूल रूप से इन अनुभवों और भौतिक-अधिभौतिक विश्वासों से संचालित है। इसके समस्त क्रियाकलाप जीवन के इन अटूट विश्वासों से प्रेरित हैं चाहे वे जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से संबंधित हों अथवा मानसिक भावनात्मक सुख एवं सौंदर्य बोध से संबंधित हों।

दूसरी ओर विश्वास का यह तत्व लोकजीवन को परस्पर बड़ी गहराई के साथ जोड़ता रहा है। इसीलिए लोक सामुदायिक चेतना सदैव से नागर अभिजात्य चेतना से अधिक एकजुट, संगठित एवं अटूट रही है। अतः हम किसी देश की सांस्कृतिक परंपरा को जानना चाहते हैं तो हमें मुख्य रूप से उसके लोक और लोक में समाहित जनजातीय जीवन को समझना आवश्यक होगा।

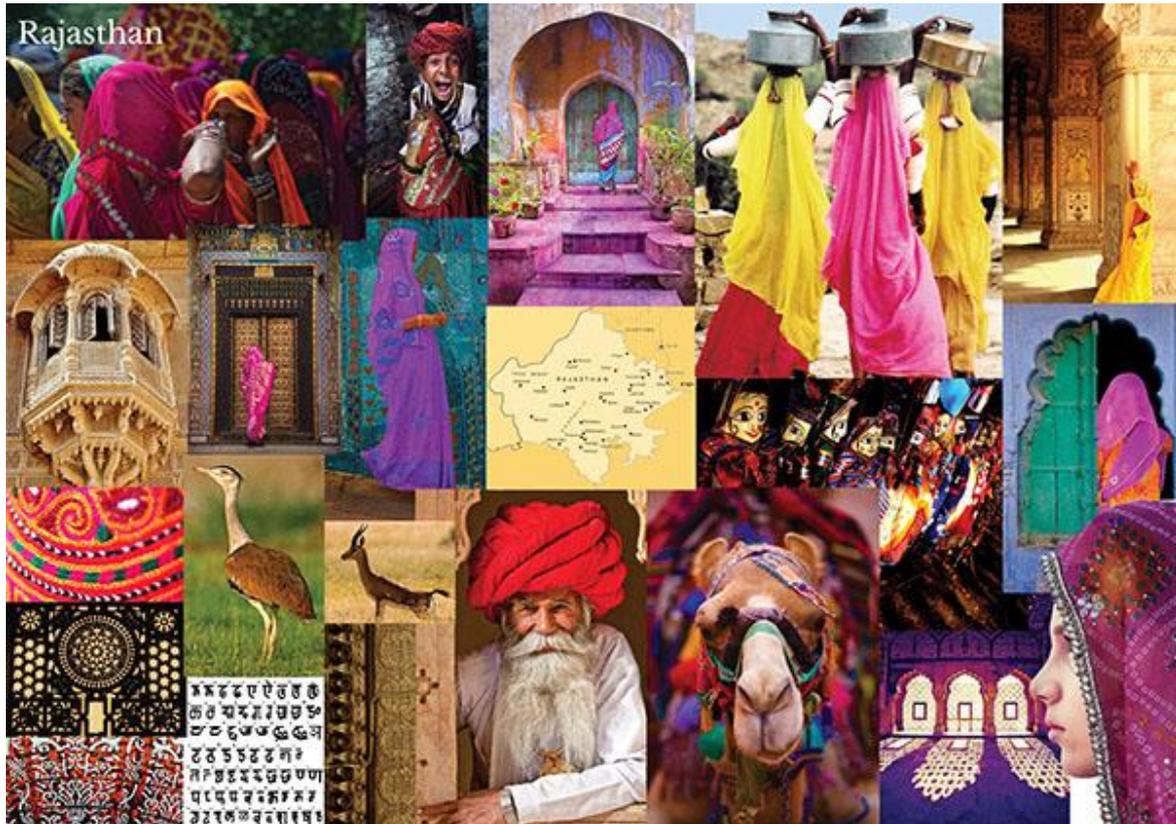
भारतीय बहुसंख्यक जनजातियां सृजनात्मक एवं कलात्मक उत्पाद की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध रही हैं भारत के विभिन्न प्रांतों में अनेक जनजातियां निवास करती हैं। यह जनजातियां आदिम संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं इनमें भील, मुरिया, धुरिया, गोंड, प्रधान (मध्यप्रदेश) भील,

मीणा, डामोर, डोढिया, गरासिया (राजस्थान) नाइक, भील, कुकाणा, डुबला, धानक (गुजरात) मुंडा, संधाल, बिरहोर, खरिया, भादू-तूसु (बंगाल) नागा, खासी, गारो(असम) साओरो, बोन्डो, कोंड, डोंगरिया (उड़ीसा) आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन जनजातियों की अपनी पृथक-पृथक कलाएं, संस्कृति, मान्यताएं, लोक विश्वास एवं भिन्न जीवन-शैली है किंतु फिर भी इनके कतिपय विचार, जीवन के प्रति दृष्टिकोण और लोकविश्वास में आश्चर्यजनक साम्य दृष्टिगत होता है।

राजस्थान भारत का वह प्रदेश है जहां इसके सांस्कृतिक मूल्यों, उच्च आदर्श एवं संस्कारों की झलक ग्राम्य में जीवन शैली में आज भी अभिव्यक्ति पाती है। वस्तुतः लोक संस्कृति एवं सभ्यता ही पीढ़ियों से चली आ रही परंपराओं की मुख्य संवाहक है। "किसी भी सभ्यता एवं संस्कृति की स्थाई सफलता उसकी कला में निहित होती है। सामाजिक आदर्श आर्थिक वैभव और धर्म के रूप बदल सकते हैं किंतु कलाओं में उनकी अमूल्य निधियां संचित रहती हैं।"²

वस्तुतः राजस्थानी ग्रामीण जीवन विभिन्न अभावों और कठिनाइयों से भरा हुआ है। पुरुष प्रायः कृषि से संबंधित श्रमसाध्य कामों में और महिलाएं कृषि कार्य के साथ घरेलू कार्यों में व्यस्त रहती हैं। इस समस्त अभावों एवं विषमताओं से युक्त नीरस दिनचर्या के बावजूद भी उन्होंने इन परिस्थितियों से सामंजस्य बिठाते हुए जीवन के प्रति दृढ़ता के साथ एक भिन्न आकर्षक जीवन शैली का विकास किया है जो उन में निरंतर ऊर्जा का संचार करती रहती है। ग्रामीण परिवेश की उबाऊ दैनिक चर्या में भी इन्होंने एक ऐसी कार्य शैली का विकास किया जो इन्हें एक रंग बिरंगी प्रसन्नता दायक एवं आकर्षक जीवन शैली प्रदान करती है। राजस्थान एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की भूमि रही है जिसने सामाजिक मूल्यों एवं परंपराओं से संपन्न एक पृथक विशिष्ट जीवनशैली को विकसित किया है। यद्यपि राजस्थान एक नीरस रंगहीन भू दृश्य की तस्वीर प्रस्तुत करता है किंतु यहां के लोगों ने इस एकरसता को तोड़ते हुए जीवन शैली में कलाओं के माध्यम से एक नवीन स्फूर्ति अथवा ऊर्जा का संचार किया है जिसने प्रकृति के सूखेपन और सादगी के अभाव की पूर्ति कर दी है। यहां के हर क्रियाकलाप में कला और संगीत की विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण भूमिका है। राजस्थान के सामाजिक जीवन के प्रत्येक प्रसन्नतादायक अवसर पर सुरीले सुश्रव्य एवं मंगलभाषी गीत जीवन के अभिन्न अंग हैं। प्रत्येक अवसर पर अनुकूल गीत-संगीत का अनिवार्य महत्व है।

"Rajasthan is a land that weaves magic in art and create mystic in craft- Music and dance are deeply ingrained in Rajasthani life- The stillness of desert evening and the upsurge of life in the short lived rainy season or a spring are filled with soulful full throated music and rhythmic dance."³



राजस्थान के लोगों की आशाएं—महत्वाकांक्षाएं, आनंद, दुःख, संवेदनाएं और मनोभावों सभी ने विविध अवसरों पर गीतों में अभिव्यक्ति पाई है। पुत्र जन्म पर थाली बजाना (पुत्र जन्म की सूचना के रूप में) कुआं पूजन, प्रत्येक अवसर पर अवसर के अनुरूप गीत गाना उस अनुष्ठान का अभिन्न अंग है। तुलसी पूजन, मांगलिक अवसरों, विवाह, विदाई, स्वागत आदि सभी अवसरों पर गीत—संगीत का अनिवार्य महत्व है। पारिवारिक अवसरों के अतिरिक्त राजस्थान के विविध लोक नृत्य यथा तेरह—ताली, भवई, कालबेलिया आदि लोक गायन यथा मांड, लांगरियार, ठुमरी आदि लोक वाद्य—वादन यथा भपंग, अलगोजा, सारंगी, मंजीरा, ढपली आदि व कठपुतली नृत्य, नौटंकी, नुक्कड़ नाटक इत्यादि की सुदृढ़ परंपराएं राजस्थानी लोक जीवन की सजीव कला चेतना को दिग्दर्शित करती हैं।

जनजातीय कलाओं के स्वरूप और उद्देश्य को दृष्टिगत रखें तो दो तथ्य सार्वभौमिक रूप से उपस्थित दिखाई देते हैं। प्रथम : समस्त जनजातीय कलाएं किसी न किसी रूप में लोकविश्वास, अदृष्ट शक्ति एवं शुभस्तु भाव से सम्बद्ध हैं। दूसरे इन कलाओं का स्वरूप सदैव देशज पर्यावरण एवं उपलब्ध सामग्री से सम्बद्ध रहा। भारत के विविध अंचलों में प्रथम तत्व समान है किंतु दूसरा तत्व पर्याप्त पृथकता रखता है जिसके कारण जनजातीय कलाओं के केंद्रीय विचार में पर्याप्त साम्य में होने के बावजूद भी कलाओं का बाह्य परिधान अर्थात् कलाओं का प्रायोगिक स्वरूप पूर्णतः पृथक एवं मौलिक रहा। कला एवं संस्कृति के निर्माण में जीवन मूल्यों, हमारे संस्कार, अभिरुचियाँ आदि के अतिरिक्त देश अथवा

स्थान की भौगोलिक संरचना, परिस्थितियाँ एवं वातावरण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राजस्थान की कला परंपरा एवं संस्कृति के निर्माण में भी यहां की भौगोलिक स्थिति एवं वातावरण की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अतः राजस्थान की जनजातीय लोक कलाओं का अध्ययन करते हुए यहां के भौगोलिक परिवेश, संरचना, पर्यावरण एवं सांस्कृतिक मूल्यों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

राजस्थान भारत देश के उत्तर—पश्चिम में स्थित देश का सबसे बड़ा भूभाग है, यहां का मौसम प्रायः शुष्क और वनस्पति की न्यूनता है। ग्रीष्म ऋतु में भीषण गर्मी एवं वर्षा की सीमितता या असमानता ने राजस्थानी जीवनशैली को प्रभावित किया है। राजस्थान राज्य की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा ग्राम्य क्षेत्रों में निवास करता है जिनमें जनजातियों की संख्या का प्रतिशत अधिक है। राजस्थान के भूगोल की सबसे बड़ी विशेषता अरावली पर्वत श्रृंखला है। राजस्थान का उत्तर—पश्चिमी भूभाग सूखा और रेगिस्तानी है तथा पाकिस्तानी सीमा से जुड़ा हुआ है। उत्तरी क्षेत्र हरियाणा, पंजाब क्षेत्रों की सीमाओं से सटा है तथा दक्षिण—पूर्वी भाग अपेक्षाकृत हरा एवं उपजाऊ है। पूर्व में मध्य प्रदेश, दक्षिण में गुजरात राज्यों की सीमाओं से सटा है। राज्य का पश्चिमी और उत्तर पश्चिमी भाग रेतीला है। पूर्व—दक्षिणी भाग में अरावली श्रृंखला से लूणी और उसकी सहायक नदियां निकलती हैं। दक्षिण क्षेत्र में माही और उसकी सहायक नदियां बहती हैं। उत्तर पूर्व में बाणगंगा गंभीरी प्रमुख हैं। राजस्थान के भौगोलिक क्षेत्र एवं जनजातीय क्षेत्रों के अध्ययन की दृष्टि से इस को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

दक्षिण राजस्थान

बांसवाड़ा, डूंगरपुर, चित्तौड़, उदयपुर, सिरोही जहां जनजातीय जनसंख्या की 40: जनसंख्या इसी क्षेत्र में निवास करती है। यहां की प्रमुख जनजातियों में भील, मीणा, गरासिया, डामोर मुख्य है।

दक्षिण पूर्वी राजस्थान

राज्य की लगभग आधी जनजातीय जनसंख्या इसी भूभाग में निवास करती है। इस क्षेत्र में भरतपुर, अलवर, सवाई माधोपुर, टोंक, भीलवाड़ा, कोटा, बूंदी, बारां, झालावाड़ जैसे जिले आते हैं। भील, मीणा यहां की प्रमुख जनजातियां हैं।

पश्चिमी राजस्थान

सीकर, झुंझुनू, गंगानगर, बीकानेर, नागौर, जोधपुर, जैसलमेर, पाली, बाड़मेर तथा जालौर जैसे जिले इस क्षेत्र में आते हैं। राज्य की जनजातीय जनसंख्या का मात्र 7% भाग इस क्षेत्र में निवास करता है। अन्य राज्यों की सीमाओं से आबद्ध राजस्थान का भूगोल यहां का भौगोलिक परिवेश और आवासित जनजातियों के परिचय के पश्चात यह समझना आसान होगा कि लोक संस्कृति या राज्य विशेष की भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध नहीं होती बल्कि सांस्कृतिक क्रियाकलापों अथवा परंपराओं का परस्पर आदान-प्रदान सदैव से होता रहा है। भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज, सामाजिक व्यवस्थाएं और धार्मिक विश्वासों का विकास अपने निज स्वरूप के साथ-साथ परस्पर मिश्रित स्वरूप में भी होता रहा है।

राज्य के पश्चिमी क्षेत्र जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर आदि स्थानों की संस्कृति पर सीमावर्ती पाकिस्तान की जीवन शैली का आंशिक प्रभाव है। कलाओं के अंतर्गत खासतौर पर गायन शैली और अलंकरण के मुस्लिम विधानों का एक पारदर्शी प्रभाव यहां देखा जा सकता है।

इसी प्रकार दक्षिणी राजस्थान में विशेष रूप से उदयपुर, पाली, आबू एवं गुजरात के सीमावर्ती क्षेत्रों में गुजराती संस्कृति और विविध लोककला विधाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। भित्ति पर बनने वाले मिट्टी के (relief) अलंकरणों वस्त्रों पर कढ़ाई (Embroidery) पेटर्न्स व पंचवर्क, ऊनी हथकरघा के पैटर्न्स, मानवीय एवं पशुओं के आभूषण, अलंकरण इत्यादि उनकी वर्ण योजनाओं, मिट्टी की झोपड़ियों की स्थापत्य रचना तथा दैनिक जीवन में काम आने वाले विविध उपादानों के कलात्मक रचना विधानों में इसके प्रभाव को देखा जा सकता है।

उत्तरी राजस्थान में पंजाब के सीमावर्ती क्षेत्रों में भाषा, वेशभूषा, काव्यात्मक व्यंजना, गायन व नृत्य की शैलियों में अलंकरण के विधानों पर पंजाबी संस्कृति का प्रभाव तथा भरतपुर के निकटवर्ती क्षेत्रों में धार्मिक मान्यताओं, संस्कारों, भाषा, काव्य शैली और गायन पर ब्रज की सांस्कृतिक प्रेरणा प्रत्यक्ष देखी जा सकती है।

तात्पर्य यह है किसी भी देश या काल की कला परंपराओं पर वहां की भौगोलिक परिस्थिति, सांस्कृतिक परिवेश तथा निकटवर्ती क्षेत्रों की कला परंपराओं का प्रभाव मान्य रूप में देखा जा सकता है। किंतु कतिपय कलारूप ऐसे भी हैं जो अन्य क्षेत्रीय प्रभावों से मुक्त अपने मौलिक या शुद्ध रूप में परंपरा के प्रवाह में जीवित हैं। मुख्य रूप

से कालबेलिया लोक नृत्य, विभिन्न मांडना रूप, गायन की कतिपय शैलियां, जैसलमेर, उदयपुर और अलवर के टेराकोटा तथा दैनिक जीवन के उपादानों के रचना विधान ऐसी कला परंपरा की ओर इंगित करते हैं जो किसी बाहरी प्रभाव से अछूती है।

जनजातीय कलाएं जीवन से गहरा संबंध रखती हैं। उपयोगिता का पक्ष उनमें प्रमुख बनकर विद्यमान रहता है यह उपयोगिता सदैव भौतिक ही नहीं अपितु अधिभौतिक रूप में भी विश्वास एवं आस्था से जुड़ी होती है इसलिए इन कलाओं का सामाजिक महत्व है। जनजातीय कलाओं का लक्ष्य मात्र सौंदर्य-अलंकरण नहीं होता यह अपने निश्चित अर्थों में कतिपय गूढ़ उद्देश्यों से प्रेरित होती हैं। यद्यपि उनके जीवन के इस कला पक्ष को वर्गीकृत करना उचित नहीं होगा तथापि अध्ययन की दृष्टि से हम उसे स्थापत्य, संगीत, नृत्य, काव्य, चित्र काष्ठ एवं मृत्तिका शिल्प, धातुकर्म, वस्त्र और आभूषणों में वर्गीकृत कर एक विहंगम दृष्टिपात कर सकते हैं। विविध आकार प्रकार की झोपड़ियों, मुख्य द्वारों के प्रकारों, खिड़कियों व आलों के कतिपय कलात्मक विधानों, चबूतरो डोलियों, देवरो इत्यादि में, गायन की विविध शैलियों, विविध वाद्य एवं वादन के प्रकारों, नृत्य की विभिन्न शैलियों में, लोकगीतों, दोहों और सोरठों में, भित्ति पर निर्मित मिट्टी के रिलीफ चित्रों, रंग चित्रों, कांच, चूड़ी, चमकीली पन्नी से निर्मित अलंकरणों, भूमि पर मांडना चित्रों, शरीर पर तिल गोदना, मेहंदी मांडना, मिट्टी के पात्र चित्रण, देवी देवताओं के प्रतीकात्मक चित्रों में, बैल गाड़ियों की नक्काशी, लकड़ी पर किए गए धातु कर्म, दैनन्दिन जीवन में काम आने वाले काष्ठ उपादानों की कलात्मक रचनाओं में, कच्ची मिट्टी से निर्मित अनाज की कोठियों व आलों के अलंकरण तथा पकाई मिट्टी से निर्मित धार्मिक कर्मकांड में प्रयुक्त होने वाले लोक देवी देवता के रूप, दीपक, खिलौनों एवं रसोई में काम आने वाले अन्य उपादानों में, चमड़े से निर्मित चषक, मशक, जलपात्र, जूतियां, आदि के आकर्षक आकारों एवं उनके ऊपर की गई सज्जात्मक अलंकरणों में, लहंगा-ओढ़नी, चोलियों के प्रकारों, उनके ठापे व छापो के अभिप्रायों (motifs) में, एवं उन पर कांच, घुंघरू, कोड़ी आदि से की गई सज्जा में, धातु से निर्मित विविध औजारों, गृह कार्यों में प्रयुक्त विभिन्न पात्रों, ऊन, सूत और मोतियों से निर्मित आभूषणों में जनजातीय कला अभिरुचि स्पष्ट परिलक्षित होती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जनजातीय संस्कृति और उनका समग्र जीवन कला के स्पर्श से युक्त है।

“Tribal aloofness, unartificiality and fierce independence seems in great contrast to the organized lives of the city based society or to the growing control over life by the state. It is from the imagination of the tribal people that we inherit some of our key cultural stances and some of its consequent art forms.”⁴

श्रम और कष्ट साध्य जीवन में राजस्थानी लोक की यह कला चेतना ही शायद एकमात्र आनंद का हेतु है। लोक विश्वास और आस्था, उपयोगितावाद और सृजनात्मकता, विज्ञान और विद्या तथा आनंद और सौंदर्य भावना का इससे सुंदर समन्वय अन्यत्र नहीं मिल सकेगा।

राजस्थानी जनजातीय कलाकार मुख्यतः धार्मिक तीज त्योहारों, विवाह, उत्सवों व अन्य मांगलिक अवसरों पर ही अपने कलाकर्मों का संपादन करते हैं। वस्तुतः राजस्थानी जीवन में यह आनंद अवसरों को अधिक सौंदर्यमयी बनाने की प्रक्रिया है। गीत हो या वाद्य वादन, लोकनाट्य हो या नृत्य, शिल्प प्रयोग हो या चित्रण; इन समस्त क्रिया विधानों में उक्त अवसरों के अनुरूप कल्याण शुभस्तु, आनंद व मंगल भावना समाहित है। "और कला में सत्यम शिवम सुंदरम की इसी रूप में स्थापना है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में काव्य (कला) के प्रयोजन को इसी रूप में स्पष्ट किया है। प्रकृति में सुंदरता का होना सत्य है लेकिन इस सत्य को सुंदर बना कर जीवन के लिए मंगलास्पद बनाना ही कला का दर्शन है।"⁵

यह निर्विवाद है कि मूल रूप से जनजातीय जीवन में कला का स्वरूप सदैव धर्म सम्मत एवं विश्वास मूलक रहा है। मात्र विषय वस्तु के स्तर पर ही नहीं बल्कि अपने स्वरूप और उद्देश्य की दृष्टि से भी कला और लोक विश्वास सम उद्देश्यपरक है।

राजस्थानी जनजातीय कलाओं में मुख्यतः लोकगीत, वाद्य, वादन कला, नृत्य, चित्रकला आदि अपने मूल स्वरूप में धर्म सम्मत या अनुष्ठानपरक हैं यथा लोकगीत, नृत्य, विभिन्न प्रकार के लोक वाद्यों का वादन, लोक देवी-देवताओं की स्तुति, कर्मकांडों अथवा आनुष्ठानिक अवसरों पर प्रस्तुत किए जाते हैं। अर्थात् राजस्थानी जनजातीय क्षेत्रों में आराध्य शक्तियों के देवों अर्थात् देव स्थानों पर संपन्न होने वाली क्रियाओं में लोकगीत, वाद्य-यंत्र तथा चित्रों का अनिवार्य स्थान या भूमिका होती है जिनके अभाव में धार्मिक अनुष्ठान, कर्मकांड अथवा पूजा प्रतिष्ठा इत्यादि क्रियाएं संपन्न नहीं होती। यथा-

मांदल

धार्मिक अनुष्ठान, गवरी नृत्य के अवसर पर।

मारु ढोल

धार्मिक कृत्यों, विवाह संस्कारों के अवसर पर।

थालीसर

कथौड़ी जनजाति में अन्तिम संस्कार के समय।

टापरा

नवरात्रि में तथा मावलिया नृत्य के समय बजाया जाता है।

इसी प्रकार मांडणा परंपरागत रूप में विभिन्न अवसरों एवं उत्सवों पर बनाए जाते हैं मांडना रूप मूलतः महिलाओं द्वारा रचे जाने वाले कला रूप हैं जो राजस्थान की प्रमुख लोक कला के रूप में स्वीकार्य है। सज्जात्मक समझे जाने वाले यह मांडना रूप राजस्थानी लोकजीवन की कला एवं सौंदर्य-बोध के प्रति गहरी अंतर्दृष्टि को अभिव्यक्त करते हैं। राजस्थानी ग्रामीण क्षेत्रों में कच्चे घरों अर्थात् झोपड़ियों में बनाए जाने वाले यह मांडना भूमि एवं भित्ति दोनों पर ही अंकित किए जाते हैं। भूमि पर अंकित किए जाने वाले मांडना रूप प्रायः ज्यामितीय आकारों पर आधारित वस्तु निरपेक्ष अलंकारिक रूप होते हैं। जबकि भित्ति पर बनने वाले मांडना प्रायः पशु-पक्षी एवं वनस्पति जगत का सरलीकृत, रचनात्मक

एवं अलंकारिक रूप हैं। कहीं-कहीं द्वार के दोनों ओर भी अलंकारिक अभिप्राय अंकित किए जाते हैं।

इसी भांति सांझी भी राजस्थानी भित्ति चित्रण का अनुपम कलात्मक रूप है। ये स्थानीय लोकजीवन में व्याप्त अवधारणा, अधिभौतिक विचारधारा, विश्वास और श्रद्धा के आधार हैं। सांझी प्रायः दशहरा के अवसर पर बनाई जाती है इसमें प्रतीकात्मक अभिप्रायों की विविधता दृष्टिगत होती है। जिनमें कुछ तो किसी शक्ति को समर्पित होती है तो कुछ अमंगलकारी शक्तियों से मुक्ति के उद्देश्य से रची जाती है। भिन्न-भिन्न अवसरों पर अलग-अलग प्रकार की सांझी बनाने की परंपरा विद्यमान है।

मेहंदी मांडना राजस्थानी लोक कला का एक अन्य स्वरूप है। यह ग्राम्य एवं जनजातीय महिलाओं की सौंदर्य चेतना को प्रमुखता से व्यक्त करती है। मेहंदी समृद्धि, सौभाग्य एवं कल्याण का प्रतीक है। विवाहित एवं कुंवारी कन्याएँ विविध प्रकार के अभिप्राय अत्यंत कुशलता और सुंदरता से अपने पावों एवं हथेलियों में बनाती हैं शायद ही ऐसा कोई उत्सव अथवा त्यौहार हो जब राजस्थान में महिलाएं मेहंदी का अंकन ना करती हों। मेहंदी स्त्रियों के सोलह श्रृंगारों में से एक माना गया है। प्राचीन काल में इसे अलक्तक अथवा लाक्षा रस के रूप में भी जाना जाता था। राजस्थान में इस रंग को महावर कहते हैं और पैरों में लगाया जाता है। कालिदास ने अपने काव्य में अलग अलक्तक अथवा लाक्षा रस का प्रयोग करने वाली नारियों का वर्णन किया है-

"निष्ठयूतश्चरणोंपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित् ॥"⁶

इसी प्रकार गोदना अलंकरण राजस्थानी लोक कला का एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण है। प्रायः राजस्थान की मीणा, गरासिया, भील, कालबेलिया, कंजर आदि जनजातियों में मुख्यतः महिलाओं में शरीर पर गोदना गुदवाना सौभाग्य के प्रतीक के रूप में मान्य है। साथ ही यह आभूषणों के समकक्ष देह अलंकरण का भी हेतु है। जनजातीय महिलाएं यह गोदना प्रायः ललाट, हाथ-पांव आदि शरीर के विभिन्न भागों पर गुदवाती हैं।

राजस्थानी जनजातीय जीवन को इसकी गहरी सौंदर्य चेतना, रंगों के प्रति गहन संवेदना, विशिष्ट वेशभूषा और कलात्मकता के लिए जाना जाता है। मुख्यतः लाल, नीला, पीला, केसरिया, हरा, गुलाबी, मेहरून आदि चटकदार रंगों के कपड़े और उन पर विभिन्न प्रकार के अभिप्राय जैसे पोमचा, चुनरी, लहरिया, छापे, पशु-पक्षियों, मानवीय मिथुनों की सरलीकृत लोक रूपाकृतियाँ उन्हें अत्यंत आकर्षक बना देते हैं। लहंगा, ओढ़नी, कुर्ती-कांचली, जरी, गोटा-किनारी, सलमा सितारा, कढ़ाई आदि का काम यहां की कलात्मक सौंदर्य की गहरी को व्यक्त करते हैं। इन सबके साथ आभूषण चूड़ी, पाटला, नथ, टिकला, झुमके और भुजबंध, कमरबंध, पायल आदि सभी में इतना कलात्मक सौंदर्य विद्यमान है कि ग्राम्य, अशिक्षित और पिछड़े कहे जाने वाले इस समाज की सौंदर्य चेतना को देखकर आश्चर्य होता है।

निष्कर्ष

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अधिकांश राजस्थानी जनजातीय कला परंपराएं अथवा कलारूप

अपने मौलिक स्वरूप में विद्यमान हैं। यद्यपि कुछ कला रूप ऐसे भी हैं जिन्होंने परिस्थिति जन्य बाह्य प्रभावों को ग्रहण तो किया किंतु इसके उपरांत भी सौंदर्य सृजन के निजी उद्देश्य को अक्षुण्ण बनाए रखा। राजस्थानी जनजातीय सृजनात्मकता को हम उनके जीवन की उपयोगिता के उपयोगितावाद में समाविष्ट पाते हैं उनके लिए कला सृजन कोई पृथक महत्व की वस्तु नहीं है बल्कि उन्होंने अपने जीवन को सुंदर सज्जात्मक करने में जो उपक्रम किया वहीं उनकी कलात्मकता के रूप में हमारे समक्ष है। "कला का प्रधान और परम प्रयोजन रसानुभूति प्रदान करना है, जो सौन्दर्यमूलक अनुभव का दूसरा नाम है। इस रस अथवा सौन्दर्यमूलक आनंद और आह्लाद को मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयोजन से पृथक नहीं किया जा सकता" ⁷

इस प्रकार किसी भी संस्कृति के सामाजिक आदर्शों की अभिव्यंजना उसकी कलाओं के माध्यम से बड़ी सरलता से हो सकती है। राजस्थान की यह कलाएं मात्र मिथ्या भ्रातियों और कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों की अभिव्यक्ति होती

है। यह तर्क एवं बुद्धि से ऊपर उठकर लोक व्यवहार का नियमन करती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल डॉ मधुलिका "चित्रकला और संस्कृत साहित्य " हिंदुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ सं 27
2. सिंह एवं यादव "प्राचीन भारतीय काव्य और संस्कृति", प्रकाशक विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, पंचम संस्करण-1988, पृष्ठ 02
3. Gupt Ashutosh: Rajasthan, SCERA, Jaipur, Page. 51& 75
4. Malik Keshav, "Arts of the Earth- Folk and Tribal Art of India" published by Art & Deal, New Delhi, 2010 page-10,11
5. अग्रवाल डॉ मधुलिका "चित्रकला और संस्कृत साहित्य " हिंदुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2002, पृष्ठ सं 21
6. कोरानी श्रीमती गंगा "राजस्थानी मंडन कला की पारिभाषिक शब्दावली"
7. राय नीहार रंजन "भारतीय कला का अध्ययन", द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि. नई दिल्ली, 1978